जुलाई 2026, मूल्य : 40

पाखी

सृजन की उड़ान

संपादक
अपूर्व

महाप्रबंधक
अमित कुमार

शब्द-संयोजन
उषा ठाकुर

रेखाचित्र : अजय कुमार सिन्हा, संदीप राशिनकर

वर्ष : 18, अंक 10, जुलाई, 2026

मूल्य :

प्रति	:	रु. 40.00
वार्षिक, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 1000.00
आजीवन, रजिस्टर्ड डाक सहित	:	रु. 10000.00

भुगतान इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी के नाम से किया जाए।
भुगतान ऑनलाइन या सीधे बैंक में भी जमा कर सकते हैं।
बैंक : UNION BANK
खाता संख्या : 520101255568785
IFSC : UBIN **0905011**
बैंक शाखा : जी-28, सेक्टर-18, नोएडा-201301
उत्तर प्रदेश

प्रकाशक

इंडिपेंडेंट मीडिया इनीशिएटिव सोसाइटी
बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201309
गौतमबुद्ध नगर, उत्तर प्रदेश
दूरभाष : 0120-4330755
editor@pakhi.in
pakhimagazine@gmail.com
www.facebook.comèpakhimagazine
Web portal : www.pakhi.in

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक और प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। प्रकाशित रचनाओं के विचार से प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अंतर्गत विचारणीय। स्वामित्व इंडिपेंडेंट मीडिया इनिशिएटिव सोसाइटी के लिए प्रकाशक, मुद्रक नारायण सिंह राणा द्वारा चार दिशाएं प्रिंटर्स प्रा.लि. जी-39, नोएडा से मुद्रित एवं बी-107, सेक्टर 63, नोएडा से प्रकाशित।

मानसून ने अपनी दस्तक दे दी है। इसी ऋतु की सौंधी खुशबू, भीगी संवेदनाओं और प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को समर्पित इस अंक के आवरण पर विश्वविख्यात फ्रांसीसी चित्रकार गुस्ताव कैलेबोट (Gustave Caillebotte) की वर्ष 1877 में बनाई गई कालजयी पेंटिंग 'Paris Street; Rainy Day' को स्थान दिया गया है। इस उत्कृष्ट कृति में कलाकार ने वर्षा के बाद भीगी हुई पेरिस की सड़कों, छतरियां थामे लोगों और उन्नीसवीं शताब्दी के शहरी जीवन को अत्यंत यथार्थवादी ढंग से चित्रित किया है। प्रकाश, जल के प्रतिबिंब और बारिश के वातावरण का सूक्ष्म चित्रण इस पेंटिंग को विश्व कला की सर्वश्रेष्ठ वर्षा-आधारित कृतियों में स्थान दिलाता है। यह ऐतिहासिक पेंटिंग वर्तमान में अमेरिका के शिकागो स्थित Art Institute of Chicago के स्थाई संग्रह का हिस्सा है।

अनुक्रमणिका

संपादकीय/अपूर्व

डिजिटल युग में अभिव्यक्ति की घेराबंदी 4

चिट्ठी आई है 7

कहानियां/लघु कथाएं/अनुदित कहानी/व्यंग्य

चक्करदार सीढ़ियां	:	रजनी गुप्त	9
मैं अयन घोष नहीं	:	नीलम शर्मा 'अंशु'	15
सियारसिंगी	:	मुकेश नौटियाल	23
एक सुबह अंधेरा	:	जवाहर चौधरी	32
दर-बदर	:	गोविंद उपाध्याय	34
सच बोलने जैसा कुछ नहीं	:	विक्रम सिंह	39
अंधकार में उजाला (लघु कथा)	:	अनुराधा प्रियदर्शिनी	52
गड्ढा *(लघु कथा)*	:	महेंद्र मद्धेशिया	61

कविताएं/ग़ज़लें/गीत

बल्ली सिंह 'चीमा' की ग़ज़लें 49

ऋचा गिरि की कविता 51

यश मालवीय की ग़ज़ल/गीत 53

पवन शर्मा की कविताएं 55

नवीन दवे मनावत की कविताएं 57

मूल्यांकन

बेतरतीब लिखते-लिखते : विजया सती 59

पीड़ा और प्रतिरोध की कविताएं : आलोक कुमार 62

नफरत के दौर में एक जरूरी सांस्कृतिक हस्तक्षेप : शैलेंद्र चौहान 65

वैचारिक धरातल पर चेतना को जगाती कविताएं : दीपक गिरकर 68

साक्षात्कार

आलोचना पर आरोपों की एक पूरी फेहरिस्त है : मोहम्मद हारुन रशीद खान 71

स्थाई स्तंभ

कल्पित कथन

राजकमल चौधरी का मुक्तिप्रसंग : कृष्ण कल्पित 75

सत्याग्रह

तिरस्कार की तरह इन दिनों साहित्य के पुरस्कार : प्रियदर्शन 79

पाखी संवाद–जहां शब्द डरते नहीं/प्रतिक्रियाएं

साहित्य, संगीत और सामाजिक नवजागरण के शिल्पी 81
सिनेमा का वह कथाकार जिसने शब्दों को दृश्य में बदल दिया 82
कविता को अदालत, सड़क और विद्रोह तक ले जाने वाला कवि 84
मुस्कुराहट में छिपी उदासी का शायर 86
स्वतंत्रता, विद्रोह और मनुष्य की जिम्मेदारी का दार्शनिक 87
हिंदी नवजागरण की निर्भीक आवाज 89
सत्ता, निगरानी और झूठ के खिलाफ लिखने वाला लेखक 91
राष्ट्रवाद, साहित्य और विवादों के बीच खड़ा एक जटिल व्यक्तित्व 93
जनता की भाषा में सत्ता से टकराने वाला जनकवि 95

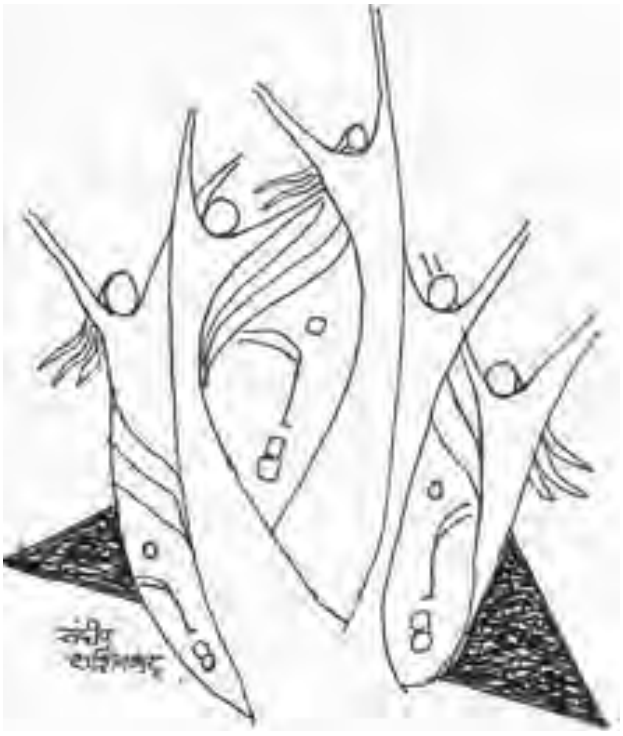

डिजिटल युग में अभिव्यक्ति की घेराबंदी

यूट्यूब आज की पीढ़ी के लिए अपनी बात दुनिया के सामने रखने का सबसे प्रभावशाली मंच बन चुका है। कभी इसे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का लोकतांत्रिक माध्यम कहा जाता था जहां कोई भी व्यक्ति अपनी बात, अपना विचार, अपनी असहमति और अपने समय के सच को दुनिया तक पहुंचा सकता था। इंटरनेट और सोशल मीडिया के उदय ने यह उम्मीद जगाई थी कि अब सूचना और विचारों के प्रवाह पर कुछ गिने-चुने संस्थानों का नियंत्रण नहीं रहेगा। अखबारों के संपादक, टीवी चैनलों के मालिक या सरकारी सेंसर बोर्ड अब यह तय नहीं कर पाएंगे कि जनता क्या देखे और क्या न देखे। लेकिन समय के साथ यह आशा धीरे-धीरे एक नए प्रकार की चिंता में बदलती दिखाई दे रही है।

व्यक्तिगत स्तर पर भी मुझे कई बार ऐसा महसूस हुआ है कि सरकार की नीतियों की आलोचना करने वाले मेरे वीडियो या सत्ता से असहमति रखने वाले आलेखों की पहुंच लगातार सीमित होती जा रही है। यह केवल मेरा अनुभव नहीं है, दुनिया भर के अनेक पत्रकार, शोधकर्ता और स्वतंत्र कंटेंट निर्माता समय-समय पर इस प्रकार की आशंकाएं व्यक्त करते रहे हैं। ऐसा क्यों का कोई स्पष्ट उत्तर उपलब्ध नहीं है। यूट्यूब और अन्य सोशल मीडिया कंपनियां एल्गोरिद्म, सामुदायिक दिशानिर्देशों और तकनीकी प्रक्रियाओं का हवाला देती हैं। लेकिन जब बार-बार ऐसे उदाहरण सामने आते हैं जिनमें सत्ता, धर्म, राजनीति या सामाजिक संघर्षों पर गंभीर सवाल उठाने वाली सामग्री को सीमित या हटाया जाता है तो संदेह पैदा होना स्वाभाविक है।

गत दिनों प्रसिद्ध वृत्तचित्र फिल्मकार आनंद पटवर्धन की राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता डॉक्यूमेंट्री 'फादर, सन एंड होली वॉर' को यूट्यूब ने अपने मंच से हटा दिया। यूट्यूब का कहना है कि फिल्म उसकी 'हिंसक सामग्री' संबंधी नीति का उल्लंघन करती है। यह निर्णय इसलिए चौंकाने वाला है क्योंकि यह कोई नई फिल्म नहीं है, बल्कि तीन दशक पुरानी ऐसी डॉक्यूमेंट्री है जिसे भारत सरकार ने राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जिसे केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ने प्रमाणित किया, जिसे दुनिया के अनेक प्रतिष्ठित फिल्म समारोहों में सराहा गया और जिसके प्रसारण के पक्ष में स्वयं भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक फैसला दिया था।

आनंद पटवर्धन भारतीय डॉक्यूमेंट्री सिनेमा का वह नाम हैं जिन्होंने लगभग पांच दशकों से भारतीय समाज की जटिलताओं को कैमरे के माध्यम से दर्ज किया है। उनकी फिल्मों का केंद्र हमेशा वे प्रश्न रहे हैं जिन्हें मुख्यधारा की राजनीति और मीडिया अक्सर असुविधाजनक मानते रहे हैं। सांप्रदायिकता, जातिगत भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, युद्ध, परमाणु हथियार, विस्थापन, श्रमिक संघर्ष और लोकतांत्रिक अधिकार ये सभी विषय उनकी फिल्मों में बार-बार दिखाई देते हैं। 'राम के नाम', 'वॉर एंड पीस', 'जय भीम कॉमरेड', 'रीजन और फादर', 'सन एंड होली वॉर' जैसी कृतियां केवल फिल्में नहीं, बल्कि अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक दस्तावेज हैं।

'फादर, सन एंड होली वॉर' का निर्माण 1980 और 1990 के दशक के उस दौर की पृष्ठभूमि में हुआ जब भारत में सांप्रदायिक राजनीति तेजी से उभर रही थी। बाबरी मस्जिद आंदोलन, सांप्रदायिक दंगे, महिलाओं के खिलाफ बढ़ती हिंसा और धार्मिक उन्माद के बीच फिल्मकार ने एक ऐसे प्रश्न की तलाश की जिसे बहुत कम लोग उठाने का साहस कर रहे थे कि क्या सांप्रदायिक हिंसा और धार्मिक कट्टरता का संबंध पुरुष वर्चस्व और मर्दानगी की सामाजिक अवधारणाओं से है?

लगभग सात वर्षों के शोध और फिल्मांकन के बाद 1995 में यह फिल्म पूरी हुई। यह दो भागों–'ट्रायल बाय फायर' और 'हीरो फार्मेसी' में विभाजित है। पहले भाग में महिलाओं के खिलाफ हिंसा, सती प्रथा, सांप्रदायिक दंगे और सामाजिक हिंसा की पड़ताल की गई है। दूसरे भाग में यह समझने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार आक्रामक पुरुषत्व, धार्मिक पहचान और राजनीतिक उन्माद एक-दूसरे को पोषित करते हैं। फिल्म यह तर्क देती है कि हिंसा केवल राजनीतिक नहीं होती, उसके पीछे गहरे सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक कारक भी सक्रिय रहते हैं।

यही कारण है कि यह फिल्म आज भी प्रासंगिक लगती है। यह किसी एक घटना या एक राजनीतिक दल की आलोचना नहीं करती, बल्कि उस मानसिकता की जांच करती है जो समाज में हिंसा और घृणा को जन्म देती है। यही वजह है कि इसे केवल भारत में ही नहीं, बल्कि दुनिया भर में गंभीरता से देखा गया।

फिल्म को केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ने यू/ए प्रमाण पत्र प्रदान किया था। 1995 में इसे दो राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुए थे, सर्वश्रेष्ठ खोजी वृत्तचित्र और सामाजिक मुद्दों पर सर्वश्रेष्ठ

फिल्म। इसके अतिरिक्त मुंबई अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में इसे अंतरराष्ट्रीय ज्यूरी पुरस्कार मिला। जापान के यामागाता अंतरराष्ट्रीय डॉक्यूमेंट्री फिल्म समारोह, इजराइल के जेरूसलम अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह, कनाडा के वैंकूवर अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह और ब्रिटेन के शेफील्ड डॉक्यूमेंट्री महोत्सव में भी इसे सम्मानित किया गया। यूरोप की प्रतिष्ठित डॉक्यूमेंट्री पत्रिका डॉक्स ने इसे दुनिया की पचास सबसे महत्वपूर्ण और यादगार डॉक्यूमेंट्री फिल्मों में शामिल किया था।

इतने सम्मान और मान्यता के बावजूद फिल्म को विरोध का सामना करना पड़ा। वर्ष 2001 में दूरदर्शन ने इसके प्रसारण से इनकार कर दिया। तर्क दिया गया कि फिल्म से कानून-व्यवस्था की समस्या पैदा हो सकती है। आनंद पटवर्धन ने इस निर्णय को अदालत में चुनौती दी। पहले बॉम्बे हाईकोर्ट ने उनके पक्ष में फैसला सुनाया और बाद में मामला सर्वोच्च न्यायालय तक पहुंचा।

वर्ष 2006 में सर्वोच्च न्यायालय ने दूरदर्शन को आदेश दिया कि वह फिल्म का प्रसारण करे। न्यायालय ने अपने फैसले में कहा कि यह फिल्म महिलाओं और विभिन्न धार्मिक समुदायों के खिलाफ राजनीतिक रूप से प्रेरित हिंसा की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत करती है। अदालत ने स्पष्ट कहा कि फिल्म का उद्देश्य सामाजिक बुराइयों को उजागर करना है, न कि किसी प्रकार की हिंसा को बढ़ावा देना। सर्वोच्च न्यायालय ने दूरदर्शन के रवैये को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संवैधानिक अधिकार के विपरीत बताया।

इस पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर देखा जाए तो यूट्यूब का ताजा फैसला और भी विचित्र प्रतीत होता है। जिस फिल्म को देश की सर्वोच्च अदालत सार्वजनिक हित में प्रसारित किए जाने योग्य मान चुकी हो, जिसे सेंसर बोर्ड की मंजूरी प्राप्त हो, जिसे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित किया जा चुका हो उसे अचानक 'हिंसक सामग्री' बताकर हटाना अनेक प्रश्न खड़े करता है। और भी आश्चर्यजनक बात यह है कि यूट्यूब की अपनी नीति कहती है कि शैक्षणिक, वृत्तचित्र, वैज्ञानिक और कलात्मक संदर्भ वाली सामग्री के लिए अपवाद लागू किए जा सकते हैं। यदि कोई फिल्म हिंसा का महिमामंडन नहीं करती, बल्कि उसके कारणों और परिणामों की पड़ताल करती है तो उसे सार्वजनिक हित की सामग्री माना जा सकता है। आनंद पटवर्धन की फिल्म इसी श्रेणी में आती है। वह हिंसा का समर्थन नहीं करती, बल्कि उसके खिलाफ चेतावनी देती है। फिर भी उसे मंच से हटाया जाना केवल तकनीकी निर्णय नहीं, बल्कि एक गंभीर वैचारिक प्रश्न बन जाता है।

यह पहली बार भी नहीं है। इससे पहले पटवर्धन की चर्चित फिल्म 'राम के नाम' पर यूट्यूब ने आयु-प्रतिबंध लगाया था। वह फिल्म बाबरी मस्जिद विध्वंस और राम मंदिर आंदोलन की राजनीति की पड़ताल करती है। उस समय भी फिल्मकार ने आरोप लगाया था कि उनकी फिल्मों को संगठित शिकायतों और राजनीतिक दबावों के कारण निशाना बनाया जा रहा है।

प्रसिद्ध वृत्तचित्र फिल्मकार आनंद पटवर्धन की राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता डॉक्यूमेंट्री 'फादर, सन एंड होली वॉर' को यूट्यूब ने अपने मंच से हटा दिया। यूट्यूब का कहना है कि फिल्म उसकी 'हिंसक सामग्री' संबंधी नीति का उल्लंघन करती है। यह निर्णय इसलिए चौंकाने वाला है क्योंकि यह कोई नई फिल्म नहीं है बल्कि तीन दशक पुरानी ऐसी डॉक्यूमेंट्री है जिसे भारत सरकार ने राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया, जिसे केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड ने प्रमाणित किया, जिसे दुनिया के अनेक प्रतिष्ठित फिल्म समारोहों में सराहा गया और जिसके प्रसारण के पक्ष में स्वयं भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने ऐतिहासिक फैसला दिया था। आनंद पटवर्धन भारतीय डॉक्यूमेंट्री सिनेमा का वह नाम हैं जिन्होंने लगभग पांच दशकों से भारतीय समाज की जटिलताओं को कैमरे के माध्यम से दर्ज किया है। उनकी फिल्मों का केंद्र हमेशा वे प्रश्न रहे हैं जिन्हें मुख्यधारा की राजनीति और मीडिया अक्सर असुविधाजनक मानते रहे हैं। सांप्रदायिकता, जातिगत भेदभाव, धार्मिक कट्टरता, युद्ध, परमाणु हथियार, विस्थापन, श्रमिक संघर्ष और लोकतांत्रिक अधिकार ये सभी विषय उनकी फिल्मों में बार-बार दिखाई देते हैं। 'राम के नाम', 'वॉर एंड पीस', 'जय भीम कॉमरेड', 'रीजन और फादर', 'सन एंड होली वॉर' जैसी कृतियां केवल फिल्में नहीं, बल्कि अपने समय के सामाजिक-राजनीतिक दस्तावेज हैं।

आज सेंसरशिप का स्वरूप बदल चुका है। पहले सरकारें किताबों, फिल्मों और अखबारों पर प्रतिबंध लगाती थीं। अब

वही भूमिका धीरे-धीरे बड़ी तकनीकी कंपनियां निभाती दिखाई दे रही हैं। फर्क सिर्फ इतना है कि पहले निर्णय लेने वाली संस्था की पहचान स्पष्ट होती थी और उसे अदालतों तथा लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति जवाबदेह ठहराया जा सकता था। आज निर्णय एल्गोरिद्म, कृत्रिम बुद्धिमत्ता और अस्पष्ट सामुदायिक दिशानिर्देशों के पीछे छिप जाते हैं।

दुनिया भर में इस विषय पर गंभीर बहस चल रही है। अमेरिका में कई बार यह आरोप लगा कि सोशल मीडिया कंपनियां राजनीतिक झुकाव के आधार पर सामग्री की दृश्यता तय करती हैं। यूरोप में डिजिटल प्लेटफॉर्म की जवाबदेही सुनिश्चित करने के लिए नए कानून बनाए गए। अनेक देशों में यह प्रश्न उठाया गया कि क्या निजी कंपनियों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे तय करें कि जनता कौन-सी जानकारी देखेगी और कौन-सी नहीं। यह बहस केवल तकनीक की नहीं, लोकतंत्र की भी है। आधुनिक लोकतंत्र सूचना के मुक्त प्रवाह पर आधारित है। यदि सूचना का प्रवाह कुछ निजी कंपनियों के नियंत्रण में आ जाए तो लोकतंत्र की प्रकृति भी बदलने लगती है। यह स्थिति और अधिक खतरनाक तब हो जाती है जब निर्णय लेने की प्रक्रिया पारदर्शी न हो।

ब्रिटिश दार्शनिक जॉन स्टुअर्ट मिल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऑन लिबर्टी' में लिखा है कि यदि पूरी मानवता एक मत की हो और केवल एक व्यक्ति असहमत हो, तब भी उस व्यक्ति को चुप कराने का कोई नैतिक अधिकार मानवता के पास नहीं है। मिल का मानना था कि गलत विचारों को भी सामने आने देना चाहिए क्योंकि सत्य और असत्य के संघर्ष से ही समाज आगे बढ़ता है।

नोम चॉम्स्की ने कहा था कि 'यदि हम उन लोगों के लिए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास नहीं करते जिनसे हम घोर असहमति रखते हैं तो हम अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में बिल्कुल विश्वास नहीं करते।' यह कथन आज पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक लगता है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की असली परीक्षा उन विचारों के मामले में होती है जिनसे हम सहमत नहीं होते। जॉर्ज ऑरवेल का प्रसिद्ध कथन भी ऐसे में याद आता है कि 'स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि लोगों को वह कहने का अधिकार हो जो वे सुनना नहीं चाहते।' लोकतंत्र में असुविधाजनक विचारों, कठिन प्रश्नों और असहमत आवाजों के लिए स्थान होना ही चाहिए। यदि केवल सुविधाजनक और लोकप्रिय विचारों को बोलने की अनुमति होगी तो लोकतंत्र धीरे-धीरे प्रचार तंत्र में बदल जाएगा।

भारतीय संदर्भ में भी यह प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं है। हमारा संविधान अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता देता है। संविधान निर्माता डॉ. भीमराव आंबेडकर ने कहा था कि 'मन की स्वतंत्रता ही वास्तविक स्वतंत्रता है।' यदि व्यक्ति के विचारों और अभिव्यक्ति पर अदृश्य नियंत्रण स्थापित हो जाए तो राजनीतिक स्वतंत्रता भी अधूरी रह जाती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि आनंद पटवर्धन की फिल्म किसी सनसनीखेज मनोरंजन का हिस्सा नहीं है। वह एक गंभीर सामाजिक दस्तावेज है। उसमें दिखाई गई हिंसा वास्तविक समाज में मौजूद हिंसा का रिकॉर्ड है। यदि समाज की वास्तविकता को दिखाना ही अपराध माना जाने लगे तो पत्रकारिता, डॉक्यूमेंट्री सिनेमा और इतिहास लेखन तीनों संकट में पड़ जाएंगे। आखिर जलियांवाला बाग, विभाजन, दंगे, युद्ध और नरसंहारों पर बनी फिल्में भी हिंसा दिखाती हैं। क्या उन्हें भी हटाया जाना चाहिए? यदि नहीं, तो फिर एक डॉक्यूमेंट्री के साथ अलग व्यवहार क्यों?

दरअसल समस्या केवल एक फिल्म की नहीं है। समस्या उस प्रक्रिया की है जिसके माध्यम से डिजिटल प्लेटफॉर्म सार्वजनिक स्मृति को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त कर चुके हैं। आज लाखों लोग इतिहास, राजनीति, संस्कृति और समाज को समझने के लिए यूट्यूब का उपयोग करते हैं। यदि महत्वपूर्ण दस्तावेजी फिल्मों को वहां से हटाया जाने लगे तो आने वाली पीढ़ियों तक क्या पहुंचेगा और क्या नहीं, इसका निर्णय कुछ कॉरपोरेट संस्थाओं के हाथों में चला जाएगा।

यूट्यूब को अपने निर्णयों की पारदर्शिता बढ़ानी चाहिए। सामग्री हटाने की प्रक्रिया स्पष्ट होनी चाहिए। अपील की व्यवस्था प्रभावी होनी चाहिए। और सबसे महत्वपूर्ण बात, शैक्षणिक तथा वृत्तचित्र सामग्री के मामले में अतिरिक्त सावधानी बरती जानी चाहिए। लोकतांत्रिक समाज में ऐसे दस्तावेजों को संरक्षित किया जाना चाहिए, न कि उनसे छुटकारा पाने की कोशिश की जानी चाहिए।

आनंद पटवर्धन की फिल्म को हटाने का मामला केवल एक फिल्मकार का मामला नहीं है। यह उस अधिकार का प्रश्न है जिसके तहत नागरिक अपने समाज की जटिल वास्तविकताओं को देख, समझ और उन पर विचार कर सकें। लोकतंत्र में असुविधाजनक प्रश्नों को दबाने के बजाय उनका सामना किया जाना चाहिए। यदि डिजिटल प्लेटफॉर्म भी वही करने लगें जो कभी कठोर सेंसरशिप करती थी तो अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का भविष्य गंभीर संकट में पड़ सकता है।

जॉर्ज ऑरवेल ने कहा था कि स्वतंत्रता का अर्थ लोगों को वह कहने का अधिकार देना है जो वे सुनना नहीं चाहते। तीन दशक पुरानी, राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता, अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संरक्षित एक डॉक्यूमेंट्री को यदि आज डिजिटल मंच से हटाया जा सकता है तो प्रश्न केवल 'फादर, सन एंड होली वॉर' का नहीं है। प्रश्न उस लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का है जिसके बिना कोई भी समाज वास्तव में स्वतंत्र नहीं रह सकता।